सरकार नहीं अखबार चाहिए

■ **प्रियदर्शन**

पिछले दिनों बर्मा ने अपने यहां प्रेस पर 48 साल से चली आ रही सेंसरशिप ख़त्म करने की घोषणा की। इसी दौरान इक्वाडोर ने विकीलीक्स के संस्थापक जूलियन असांज को राजनीतिक शरण देने का फ़ैसला किया। बर्मा और इक्वाडोर ऐसे देश नहीं हैं जो अभिव्यक्ति की आज़ादी का सम्मान करने के लिए जाने जाते रहे हों। लेकिन अगर बर्मा के शासक भी अपने यहां खुली ख़बरों की ज़रूरत महसूस कर रहे हैं और अगर इक्वाडोर भी जूलियन असांज जैसी शख़्सियत से इस तरह मोहित है कि उसने कई देशों से दुश्मनी लेने का ख़तरा मोल लेते हुए उन्हें राजनीतिक शरण दी है तो इसीलिए कि धीरे-धीरे यह समझ हर जगह बन रही है कि अभिव्यक्ति की आज़ादी कई दूसरी चीज़ों के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा ज़रूरी है।

लेकिन जब दुनिया भर में अभिव्यक्ति की आज़ादी नए क्षेत्रों में दाखिल हो रही है, तब हमारे यहां सरकार उन वेबसाइट्स और सोशल साइट्स के खातों की फेहरिस्त बना रही है जिन पर पाबंदी लगाई जानी है।

निस्संदेह असम की हिंसा के पीछे कुछ वेबसाइट्स और कुछ सोशल साइट्स से जुड़े खातों की ग़ैरज़िम्मेदार ही नहीं, बदनीयत भूमिका भी रही है और सरकार की यह बात भी मान लेते हैं कि इनमें कुछ का संचालन सीमा पार से भी हो रहा था। लेकिन अगर सरकार यह मानने या समझाने में लगी है कि असम की हिंसा और बाद में महाराष्ट्र से लेकर कर्नाटक तक की दक्षिणी पश्चिमी पट्टी से रातों-रात पूर्वोत्तर के लोगों के पलायन के पीछे सिर्फ सोशल वेबसाइट्स का खड़ा किया गया हंगामा है, तो या तो वह ख़ुद को ज़्यादा चालाक या फिर लोगों को ज़्यादा नादान समझ रही है।

असम में हिंसा और विस्थापन हो या दक्षिणी राज्यों से लोगों का पलायन- इन सबके बीच दरअसल हमारे समाज में बढ़ती सांप्रदायिकता और कुछ समूहों के प्रति लगातार बढ़ाए जा रहे नस्ली परायेपन के एहसास में है। इन तमाम मूल कारणों से आंख मिलाने और इनकी काट ढूढ़ने की जगह सरकार सीमा पार की वेबसाइट्स ढूढ़ रही है।

निस्संदेह हम सब अपने अनुभव से जानते हैं कि बहुत सारे सांप्रदायिक तत्व और संगठन सोशल साइट्स का इस्तेमाल अफवाह और नफ़रत फैलाने से लेकर लेखकों को डराने-दबाने के लिए भी कर रहे हैं।

फेसबुक पर ऐसे कई कमेंट और टैग मिल जाते हैं जो बिल्कुल खौलती हुई नफ़रत की भाषा बोलते हैं, तर्कातीत और भावुक ढंग से राष्ट्र और धर्म पर बहस करते हैं और लोगों को सबक सिखाने, उनसे बदला लेने और उन्हें उनकी औकात बता देने तक की हुंकार भरते हैं। ऐसे लोगों की शिनाख्त भी ज़रूरी है और उनसे

वैचारिक मुठभेड़ भी। लेकिन वे फेसबुक पर इसलिए हैं कि हमारे समाज में हैं, और समाज में भी बिल्कुल कहीं साथ-साथ हैं, वरना जिस फेसबुक पर आप अपनी मर्जी से अपना मित्र पड़ोस बसाते हैं, वहां ये लोग कैसे चले आते?

जाहिर है, सरकार इस समाज की विडंबना को नहीं देख रही, उसका सच बता रही सोशल साइट्स को देख रही है। कहीं इसलिए तो नहीं कि वह दरअसल अपने समाज के असामाजिक और सांप्रदायिक तत्वों से नहीं, बल्कि अभिव्यक्ति के उन माध्यमों से लड़ना चाह रही है जो उसके लिए असुविधाजनक हैं?

वरना एक साथ तीन सौ से ज़्यादा वेबसाइट्स और ट्विटर अकाउंट बंद करने का आग्रह वह क्यों करती? वह भी तब, जब इनके विरुद्ध शिकायत करने और ऐसी आपत्तिजनक सामग्री हटवाने के विकल्प उसके पास पहले से सुलभ हैं और इनका वह भरपूर इस्तेमाल करती रही है? इसका एक प्रमाण यह है कि सरकार की फेहरिस्त में ऐसी साइट्स और उन अकाउंट्स के नाम भी हैं जहां से उस पर कभी व्यंग्य में और कभी सीधे हमले होते हैं, कभी उसका मज़ाक बनाया जाता है और कभी उसका कार्टून दिखाई पड़ता है।

इसमें ज़रा भी शक नहीं कि सोशल साइट्स का संसार- या पूरा का पूरा नेट संसार- ऐसी आपत्तिजनक सामग्री से पटा पड़ा है जो सतही है, बदनीयत है, अश्लील है और ख़तरनाक भी है और जिसे रोकने, जिस पर नियंत्रण रखने की ज़रूरत है। लेकिन यह आभासी संसार हमारे असली संसार ने ही बनाया है-इस संसार को ऐसी सामग्री के प्रति ज़्यादा संवेदनशील बनाकर, जागरूक बनाकर ही हम इसकी काट खोज सकते हैं।

लेकिन इसकी जगह फेसबुक या ट्विटर या दूसरे माध्यमों या इनसे जुड़े खातों पर बहुत सपाट किस्म की पाबंदी बेमानी साबित होगी- बल्कि यह एक ख़तरनाक चलन को जन्म देगी, जब हर किसी बड़े हादसे के बाद सरकारी तंत्र नई वेबसाइट्स, नए अकाउंट खोजने में लग जाएगा जिन्हें प्रतिबंधित किया जाए- और बहुत संभव है, तब भी इसके स्रोत सीमा पार ही खोज निकालेगा।

यह अनायास नहीं है कि असम के 4 लाख से ज़्यादा बेघर बताए जा रहे लोगों के पुनर्वास या महाराष्ट्र, कर्नाटक और आंध्र प्रदेश से हज़ारों लोगों के पलायन का सवाल पीछे छूट गया है, सोशल साइट्स पर पाबंदी की ख़बर बड़ी हो गई है।

इसमें ज़रा भी शक नहीं कि सोशल साइट्स का संसार- या पूरा का पूरा नेट संसार- ऐसी आपत्तिजनक सामग्री से पटा पड़ा है जो सतही है, बदनीयत है, अश्लील है और ख़तरनाक भी है और जिसे रोकने, जिस पर नियंत्रण रखने की ज़रूरत है।

साफ तौर पर ये दोनों सिरे वास्तविक लोकतंत्र के प्रति हमारे राजनीतिक तबकों की उदासीनता से ही जुड़ते हैं- न वे लोगों को न्याय दे पा रहे हैं और अपने अन्याय पर दूसरों की टिप्पणी सहन पा रहे हैं।

अमेरिका के तीसरे राष्ट्रपति और अमेरिका के संविधान निर्माताओं में एक थॉमस जेफ़रसन ने सवा दो सौ साल पहले लिखा था, 'अगर मुझे तय करना पड़े कि हमें सरकार चाहिए या अखबार तो मुझे अख़बार चुनने में एक लम्हे की भी हिचक नहीं होगी।'

इसलिए कि थॉमस जेफ़रसन यह बात समझते थे कि लोकतंत्र को चलाने का काम भले सरकारें करती हों, उसे बचाए रखने का काम अख़बार ही करते हैं। हमें भी यह बात समझनी होगी और असम की हिंसा के नाम पर अभिव्यक्ति की आज़ादी को सीमित करने वाले प्रयत्नों का प्रतिरोध हमें करना ही होगा। ■

(लेखक वरिष्ठ टिप्पणीकार हैं और एनडीटीवी से संबद्ध हैं।)

SMS
Social Media